

योग एवं स्वास्थ्य: वैदिक परंपरा से आधुनिक जीवन तक एक समग्र दृष्टि

डॉ. सुमन

सहायक आचार्य (संस्कृत), आदर्श महिला महाविद्यालय, भिवानी

M: 8168630120

Email: sarichwal@gmail.com

सार

योग को प्रायः केवल आसन अथवा शारीरिक व्यायाम तक सीमित मान लिया जाता है; किंतु भारतीय आर्ष-परंपरा में यह जीवन को 'आधि' एवं 'व्याधि' से मुक्त कर 'समाधि' की ओर ले जाने वाली एक समग्र विद्या है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य योग की वैदिक उत्पत्ति, उसके आदि-वक्ता की अवधारणा तथा महर्षि पतंजलि-प्रणीत चित्त की पंचवृत्तियों को वर्तमान सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के धरातल पर पुनर्व्याख्यायित करना है। साथ ही आयुर्वेद की 'स्वस्थ' विषयक परिभाषा के आलोक में शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य के त्रिआयामी स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। वेद, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, हठयोगप्रदीपिका एवं सुश्रुतसंहिता के प्रामाणिक उद्धरणों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य रूपी तीन स्तंभों, गहन श्वसन तथा ओंकार-उच्चारण के माध्यम से बाह्य जगत से अंतर्जगत की ओर की गई यात्रा ही वास्तविक आरोग्य एवं आत्म-स्थिति का मार्ग है। निष्कर्षतः योग आत्म-अनुशासन पर आधारित वह जीवन-पद्धति है जो व्यक्ति, परिवार एवं समाज—तीनों को संतुलित करती है।

मुख्य शब्द (Keywords)

योग, चित्तवृत्ति-निरोध, हिरण्यगर्भ, समग्र स्वास्थ्य, आयुर्वेद, ओंकार-साधना।

प्रस्तावना

वर्तमान समय में नगर-नगर एवं गली-गली योग-प्रशिक्षकों की एक विस्तृत शृंखला सक्रिय है, फिर भी जन-सामान्य की प्रायः यही धारणा है कि योग का आरंभ महर्षि पतंजलि से अथवा किसी 'आदियोगी' से हुआ। यही धारणा इस शोध-पत्र के मूल प्रश्न को जन्म देती है—योग वस्तुतः क्या है और इसकी परंपरा कितनी प्राचीन है? पत्र का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि योग सृष्टि से भी पूर्ववर्ती एक शाश्वत विद्या है और यदि इसे दर्शन की दुरूहता से निकालकर सरल, व्यावहारिक एवं पारिवारिक रूप में जीवन में उतारा जाए, तो यह व्यक्ति को आधि-व्याधि से मुक्त कर समग्र स्वास्थ्य प्रदान करने में समर्थ है।

अध्ययन का उद्देश्य एवं पद्धति

प्रस्तुत शोध मूलतः शास्त्र-विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें वेद, पातंजलि योगसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, हठयोगप्रदीपिका एवं सुश्रुतसंहिता जैसे प्रामाणिक मूल-ग्रंथों के उद्धरणों को आधार बनाकर योग एवं स्वास्थ्य की अवधारणा का अनुशीलन किया गया है। अध्ययन के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—प्रथम, योग की वैदिक उत्पत्ति एवं उसके दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करना तथा द्वितीय, पतंजलि की चित्तवृत्तियों एवं आयुर्वेद की 'स्वस्थ' विषयक परिभाषा को वर्तमान पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के संदर्भ में व्यावहारिक रूप से प्रस्तुत करना। इस हेतु ग्रंथगत प्रमाणों के साथ-साथ समकालीन जीवनशैली से

जुड़े दृष्टांतों का समन्वय किया गया है, ताकि शास्त्रीय ज्ञान एवं उसके व्यावहारिक अनुप्रयोग के बीच एक सेतु स्थापित हो सके।

१. योग की परंपरा एवं आदि-वक्ता की अवधारणा

प्रायः योग के संबंध में लोग इसका प्रारंभ महर्षि पतंजलि से अथवा 'आदियोगी शंकर' से मानते हैं। किंतु जब हम वेद की प्रार्थना-परंपरा की ओर दृष्टि डालते हैं, तो यजुर्वेद एवं ऋग्वेद का सुप्रसिद्ध हिरण्यगर्भ-सूक्त एक भिन्न एवं अधिक प्राचीन चित्र प्रस्तुत करता है—

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**

—(ऋग्वेद १०.१२१.१; यजुर्वेद १३.४)

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व एकमात्र परमात्मा (हिरण्यगर्भ) ही विद्यमान था, जिसने इस पृथ्वी एवं द्युलोक को धारण किया। इससे स्पष्ट होता है कि योग की परंपरा सृष्टि के प्रारंभ से नहीं, अपितु उससे भी पूर्व विद्यमान थी। तब प्रश्न उठता है कि इस योग का आदि-वक्ता कौन है? महाभारत के शान्तिपर्व का कथन इसका समाधान देता है—

**साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥**

—(महाभारत, शान्तिपर्व)

अर्थात् सांख्य के वक्ता परमर्षि कपिल कहे जाते हैं, परंतु योग के प्राचीनतम आदि-वक्ता केवल हिरण्यगर्भ ही हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति तथा अन्य आर्ष-ग्रंथ भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार आर्ष-परंपरा में योग का प्रथम वक्ता उस अनादि एवं अनंत सत्ता 'परमपिता परमेश्वर' को माना गया है, जो सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान था।

२. योग का अर्थ: 'युज्' धातु तथा 'समाधि' बनाम 'व्याधि'

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति पर पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से विचार करें तो दो मूल धातु हैं—'युजिर् योगे' (जोड़ना) तथा 'युज् समाधौ' (एकाग्र होना अथवा समाधि)। सामान्य चर्चा में योग को 'आत्मा का परमात्मा से मिलान कराने वाली विद्या' कहा जाता है और सामाजिक दृष्टि से वह विद्या योग है जो समाज को परस्पर जोड़ती है। संस्कृत भाषा की विश्लेषण-क्षमता यहाँ एक सुंदर संकेत देती है—'आधि' शब्द में 'सम्' उपसर्ग जोड़ने पर 'समाधि' बनता है और 'वि' जोड़ने पर 'व्याधि'। इसीलिए कहा गया है—'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'। तात्पर्य यह कि जो विद्या मनुष्य को 'आधि' (मानसिक उद्वेग) एवं 'व्याधि' (रोग) से दूर कर 'समाधि' की ओर ले जाए, वही योग है। जैसे 'सम्' लगने से अर्थ 'समर्थ', कृति 'संस्कृति' तथा कार 'संस्कार' बन जाता है, वैसे ही 'सम्' की यह साधना जीवन को संतुलित एवं पूर्ण बनाती है।

३. व्यावहारिक योग: विद्यार्थी व अध्यापक के लिए

योग का मूल भाव है—जिस कार्य में हम संलग्न हैं, उसमें पूर्ण रूप से 'युक्त' अथवा तन्मय हो जाना। इसी आधार पर योग को शैक्षिक जीवन के संदर्भ में सहज रूप से परिभाषित किया जा सकता है। विद्यार्थी के लिए योग है—एकाग्रता एवं तन्मयता के साथ अध्ययन करते हुए ज्ञान का अर्जन तथा विषय का गहन

आत्मसातीकरण; जब अध्ययन में चित्त की समस्त वृत्तियाँ एक ही लक्ष्य पर केंद्रित हो जाती हैं, तभी वास्तविक ज्ञानार्जन संभव होता है और यही विद्यार्थी का योग है।

इसी प्रकार अध्यापक के लिए योग है—मनोयोग एवं समर्पण के साथ विद्यार्थियों को विषय का अवबोध कराना; अध्यापन जब केवल सूचना का हस्तांतरण न रहकर तन्मयतापूर्ण ज्ञान-संप्रेषण बन जाता है, तब वह शिक्षण-प्रक्रिया स्वयं एक योग-साधना का रूप ले लेती है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी भाव को अत्यंत सुंदर रूप में प्रस्तुत किया गया है—

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥**

—(श्रीमद्भगवद्गीता २.५०)

अर्थात् योग कर्मों में कुशलता का नाम है। इस दृष्टि से योग किसी विश्वविद्यालय में अध्ययन किया जाने वाला पृथक् विषय मात्र नहीं, अपितु प्रत्येक कर्म विशेषतः अध्ययन एवं अध्यापन को दक्षता एवं समर्पण से करने की कला है। यही कारण है कि योग किसी एक विषय अथवा कक्षा तक सीमित नहीं रहता; अपने नियत कर्तव्य में पूर्ण मनोयोग से संलग्न हो जाना ही विद्यार्थी एवं अध्यापक दोनों के लिए योग का व्यावहारिक स्वरूप है।

४. अष्टांग योग एवं 'ध्यान' की प्रथम पाठशाला

महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग बताए हैं— 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' (योगसूत्र २.२९)। इनमें ध्यान सातवाँ अंग है, जो धारणा के पश्चात् आता है। यहाँ एक मार्मिक तथ्य ध्यातव्य है—ध्यान की प्रथम शिक्षा हमें किसी संस्थान में नहीं, अपितु घर की प्रारंभिक पाठशाला में माता, पिता एवं गुरुजनों से मिलती है। विद्यालय जाते समय माता का यह कहना—'बेटा, ध्यान से जाना' अथवा 'ध्यान से पढ़ना'—वस्तुतः योग के सातवें अंग की ही प्रारंभिक दीक्षा है। आसन के विषय में भी पतंजलि का सूत्र अत्यंत सरल है—'स्थिरसुखमासनम्' (योगसूत्र २.४६), अर्थात् जो स्थिर एवं सुखप्रद हो, वही आसन है। इस प्रकार योग के अंग दुरूह दर्शन नहीं, अपितु दैनंदिन जीवन में सहज रूप से व्याप्त हैं।

५. चित्त की पंचवृत्तियाँ: एक व्यावहारिक एवं सामाजिक दृष्टि

महर्षि पतंजलि योग की मूल परिभाषा देते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र १.२), अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। ये वृत्तियाँ पाँच हैं—'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (१.६)। यद्यपि योगसूत्र में इनकी व्याख्या आत्म-उन्नति के उच्च स्तर पर है, इन्हें सामाजिक एवं पारिवारिक धरातल पर भी सहज रूप से समझा जा सकता है।

प्रथम है प्रमाण-वृत्ति—'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' (१.७)। बाल्यकाल में जब शिशु के भीतर जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तो उसके लिए प्रथम 'प्रमाण' उसकी माता होती है। आगे चलकर माता, पिता एवं आचार्य—ये तीन ही प्रामाणिक ज्ञान के स्तंभ बनते हैं। महर्षि दयानंद ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में संतान-निर्माण हेतु माता के धार्मिक एवं विदुषी होने को विशेष महत्व दिया है। वर्तमान के 'फेक न्यूज़' एवं 'भ्रामक नैरेटिव' के युग में संतान की प्रारंभिक जिज्ञासाओं का तथ्यपूर्ण समाधान करना ही पारिवारिक स्तर पर योग है।

द्वितीय है विपर्यय—‘विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्’ (१.८)। मिथ्या ज्ञान से बचना तथा प्रत्येक वस्तु को उसके यथार्थ रूप में जानना एवं बताना सम्पूर्ण शिक्षा-जगत का दायित्व है।

तृतीय है विकल्प—‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः’ (१.९), अर्थात् ऐसा ज्ञान जो केवल शब्द पर आधारित हो, पर जिसके पीछे कोई वास्तविक वस्तु न हो। ‘अमुक पद, बड़ा पैकेज अथवा बहुराष्ट्रीय कंपनी ही सुख का एकमात्र मार्ग है’—यह आधुनिक विकल्प-वृत्ति का उदाहरण है। एक प्रसिद्ध दृष्टांत है—वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे एक व्यक्ति को किसी उद्यमी ने परिश्रम कर धन कमाने, फिर सुख-सुविधा जुटाने और अंततः निश्चित होकर सोने का परामर्श दिया; इस पर वह व्यक्ति बोला कि जो गहरी नींद वह अभी ले रहा है, उसके लिए इतना श्रम क्यों? तात्पर्य यह नहीं कि परिश्रम न किया जाए, अपितु यह कि विकल्प चित्त को ‘संकल्प’ से विचलित कर देता है, जबकि जीवन तो संकल्प-शक्ति से ही गढ़ा जाता है।

चतुर्थ है निद्रा—‘अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा’ (१.१०) तथा पंचम है स्मृति—‘अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः’ (१.११)। आज प्रतिदिन समाचारों एवं सूचनाओं की भरमार से स्मृति-कोष दूषित हो रहा है; अतः ‘क्या स्मरण रखना है’ का विवेक भी योग का ही अंग है। इस प्रकार इन पाँचों वृत्तियों का संतुलित नियमन व्यक्ति एवं समाज—दोनों के लिए कल्याणकारी है।

६. तपः — द्वन्द्व सहन एवं समत्व

योगसूत्र के द्वितीय पाद का आरंभ क्रियायोग से होता है—‘तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः’ (योगसूत्र २.१)। यदि गहन दार्शनिक विवेचन में न भी जाएँ, तो जीवन में इन तीन कार्यों—तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान को अपनाना ही पर्याप्त है। व्यास-भाष्य के अनुसार ‘द्वन्द्वसहनं तपः’—अर्थात् सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, शीत-उष्ण एवं सफलता-असफलता जैसे द्वंद्वों को समभाव से सहना ही तप है। आज का विद्यार्थी समवयस्कों के दबाव (पीयर-प्रेसर) और भविष्य की चिंताओं से उपजे तनाव में जी रहा है; ऐसे में द्वंद्वों को समभाव से सहने की यह साधना अत्यंत प्रासंगिक हो जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता इसी समभाव को योग कहती है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता २.४८)

अर्थात् सिद्धि एवं असिद्धि में समभाव रखते हुए कर्म करना—यही समत्व-रूपी योग है। इस प्रकार तप द्वंद्वों को समाप्त कर मन को स्थिरता प्रदान करता है।

७. स्वास्थ्य का त्रिआयामी स्वरूप एवं आयुर्वेदीय परिभाषा

योग की इस विवेचना के पश्चात् इस शोध-पत्र का द्वितीय पक्ष ‘स्वास्थ्य’ है, जिसके तीन आयाम हैं—शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक। आज समाज में चिकित्सालयों का विस्तृत जाल केवल शारीरिक स्वास्थ्य का दायित्व उठाता प्रतीत होता है, जबकि आयुर्वेद ‘स्वस्थ’ की एक समग्र परिभाषा देता है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

—(सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान १५.४१)

अर्थात् जिसके वात-पित्त-कफ रूपी दोष सम हों, जठराग्नि सम हो, रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा एवं शुक्र—ये सातों धातुएँ तथा मल-विसर्जन की क्रियाएँ संतुलित हों और जिसकी आत्मा, इंद्रियाँ एवं मन प्रसन्न हों, वही वास्तव में 'स्वस्थ' है। यह परिभाषा स्पष्ट करती है कि स्वास्थ्य केवल रोग का अभाव नहीं, अपितु दोष, अग्नि, धातु, मल तथा मन की प्रसन्नता का सम्यक् संतुलन है। यहीं हठयोग-परंपरा भी जुड़ती है, जिसमें घेरण्डसंहिता आदि ग्रंथ शरीर-शुद्धि हेतु षट्कर्म का विधान देते हैं।

८. जीवन के तीन स्तंभ एवं ओंकार-साधना

आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य के तीन आधार-स्तंभ (त्रयोपस्तम्भ) हैं—आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य। यहाँ यह स्मरणीय है कि सात धातुओं में अंतिम 'शुक्र' धातु 'ओज' का स्रोत है, जो मस्तिष्क एवं समग्र शरीर की शक्ति को प्रदीप्त रखती है; ब्रह्मचर्य का अभिप्राय इसी ओज के संयम एवं संरक्षण से है, जिसे आधुनिक युवा-पीढ़ी प्रायः उपेक्षित कर देती है। दुर्भाग्यवश आज न आहार पर चिन्तन है, न ही निद्रा पर। 'फास्ट-फूड' की संस्कृति आहार को विकृत कर रही है और अधिकांश युवा रात्रि-जागरण के अभ्यस्त हो चुके हैं। एक मार्मिक तुलना प्रासंगिक है—जैसे कोई मशीन यदि नियत समय से अधिक चलाई जाए तो उसकी आयु घट जाती है, वैसे ही दीर्घ अवधि तक कार्य में झोंक दिया गया युवा भी असमय क्षीण हो जाता है; फलतः उसकी जीवन-पद्धति न आहार का ध्यान रखती है, न निद्रा का। इसका समाधान है—गहन श्वसन एवं गहरी निद्रा। प्राण एवं मन के अटूट संबंध को हठयोगप्रदीपिका सुस्पष्ट करती है—

**चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥**

—(हठयोगप्रदीपिका २.२)

अर्थात् वायु (प्राण) के चंचल होने पर चित्त भी चंचल होता है और प्राण के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है; इसीलिए प्राण का नियमन (प्राणायाम) करना चाहिए। महर्षि पतंजलि ने भी अपनी साधना-पद्धति में प्राणायाम को विशेष स्थान दिया है। इसी क्रम में ओंकार का उच्चारण एक सरल किंतु प्रभावी साधन है। ओंकार के 'अ-उ-म्' स्वरों का क्रमिक आरोह एवं उतना ही दीर्घ अवरोह स्वतः गहन श्वसन का अभ्यास करा देता है; अनुभवजन्य रूप से इसके निरंतर अभ्यास से रक्तचाप (बी.पी.) जैसे विकारों में संतुलन देखा गया है। अतः प्रतिदिन प्रातःकाल ओंकार के दीर्घ उच्चारण का संकल्प स्वास्थ्य की दिशा में एक ठोस पग सिद्ध हो सकता है।

९. बाह्य से अंतर्जगत की यात्रा: 'स्वस्थ' की सार्थकता

योग का अंतिम लक्ष्य व्यक्ति को बाह्य जगत से अंतर्जगत की ओर ले जाना है। इस यात्रा में एक सुव्यवस्थित नियंत्रण-शृंखला है—स्थूल इंद्रियाँ मन के नियंत्रण में, मन बुद्धि के, बुद्धि चित्त के संस्कारों के और अंततः आत्मा परमात्मा के नियंत्रण में। स्वामी विवेकानंद का 'राजयोग' इसी मनोवैज्ञानिक नियंत्रण की एक प्रमुख आधुनिक व्याख्या है। यहाँ स्वतंत्रता एवं स्वच्छंदता का भेद समझना आवश्यक है—'स्व' के अनुशासन में चलना स्वतंत्रता है, जबकि परिणाम का विचार किए बिना इच्छा के अनुसार चलना स्वच्छंदता है; स्वतंत्रता विवेक को जागृत रखती है, जबकि स्वच्छंदता उसे समाप्त कर देती है। मन की प्रसन्नता हेतु यजुर्वेद का शिवसंकल्प-सूक्त एक श्रेष्ठ संकल्प प्रस्तुत करता है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तद् सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—(यजुर्वेद ३४.१)

अर्थात् जागृत और सुषुप्त— दोनों अवस्थाओं में दूर तक जाने वाला मेरा मन कल्याणकारी संकल्पों वाला हो। रात्रि-शयन से पूर्व दिनभर के आचरण का आत्म-निरीक्षण इसी संकल्प का व्यावहारिक रूप है, जो निद्रा को भी स्वस्थ बनाता है। वस्तुतः 'स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः'—जो अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाए, वही स्वस्थ है। बाह्य साधनों पर केंद्रित यात्रा मनुष्य को सीमाओं में बाँधती है, जबकि अंतर्जगत की यात्रा असीम आनंद एवं ऊर्जा का स्रोत बनकर उसे यथार्थ रूप में स्वस्थ बनाती है। इस अंतर्यात्रा का एक सरल एवं प्रभावी अभ्यास है—प्रतिदिन कुछ समय के लिए जागते हुए 'मौन' धारण करना; क्योंकि मौन में ही व्यक्ति स्वयं से संवाद कर पाता है और स्वयं से किया गया यही संवाद उसे स्वस्थ होने की दिशा में अग्रसर करता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि योग केवल आसन अथवा व्यायाम नहीं, अपितु सृष्टि से भी प्राचीन एक शाश्वत विद्या है, जिसका मूल भाव है—प्रत्येक कर्म में 'युक्त' होना तथा 'आधि-व्याधि' से मुक्त होकर 'समाधि' की ओर बढ़ना। पतंजलि की पंचवृत्तियों को जब पारिवारिक एवं सामाजिक धरातल पर समझा जाता है, तो माता, पिता एवं आचार्य ही प्रामाणिक ज्ञान के प्रथम स्रोत सिद्ध होते हैं और परिवार योग की प्रथम पाठशाला बन जाता है। स्वास्थ्य के संदर्भ में आयुर्वेद की 'स्वस्थ' विषयक परिभाषा यह सिद्ध करती है कि शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक संतुलन ही वास्तविक आरोग्य है, जिसे आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य रूपी तीन स्तंभों, गहन श्वसन तथा ओंकार-साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस समग्र दृष्टि का व्यापक प्रभाव यह है कि योग व्यक्ति, परिवार एवं समाज—तीनों को आधि-व्याधि से मुक्त करने में समर्थ है। जिस समाज में मन की प्रसन्नता, संतुलित आहार-निद्रा एवं आत्म-अनुशासन को प्राथमिकता दी जाएगी, वहाँ रोग, तनाव एवं हिंसा—तीनों स्वतः ही न्यून होंगे। अतः विश्व-योग-दिवस को मात्र एक आयोजन के स्थान पर 'संकल्प-दिवस' के रूप में अपनाना ही इसकी वास्तविक सार्थकता है—क्योंकि अंततः 'स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः', अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होना ही यथार्थ स्वास्थ्य है।

संदर्भ-सूची

1. आयंगर, बी.के.एस. योगदीपिका (पातंजल योगसूत्र सहित)।
2. विवेकानंद, स्वामी. राजयोग. कोलकाता: रामकृष्ण मठ।
3. मुक्ताबोधानंद, स्वामी. हठयोगप्रदीपिका. मुंगेर: बिहार योग विद्यालय।
4. घेरण्डसंहिता. मुंगेर: बिहार योग विद्यालय।
5. सरस्वती, महर्षि दयानंद. सत्यार्थ प्रकाश. अजमेर: आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट।
6. सातवलेकर, पं. श्रीपाद दामोदर. ऋग्वेद एवं यजुर्वेद सुबोध भाष्य. पारडी: स्वाध्याय मण्डल।
7. शास्त्री, डॉ. अम्बिकादत्त. सुश्रुतसंहिता (आयुर्वेद-तत्त्व-संदीपिका हिंदी व्याख्या सहित). वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत संस्थान।



**International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary
Trends (IJARMT)**

An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal

Impact Factor: 7.2 Website: <https://ijarnt.com> ISSN No.: 3048-9458

8. रामसुखदास, स्वामी. श्रीमद्भगवद्गीता (साधक-संजीवनी). गोरखपुर: गीता प्रेस।
9. महाभारत (शान्तिपर्व). गोरखपुर: गीता प्रेस।